International Journal of Advanced Education and Research
ISSN: 2455-5746, Impact Factor: RJIF 5.34
www.alleducationjournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2017; Page No. 66-67

सन्त साहित्य की प्रासंगिकता

डॉ. पूनम काजल
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दू कन्या महाविद्यालय, जीन्द, हरियाणा, भारत।

सारांश
भारतीय संत साहित्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। भक्ति–भावना की प्रमुखता के साथ–साथ संतों ने तत्कालीन समाज, धर्म व राजनीति के विविध संदर्भो को उठाकर अत्यन्त ओजस्वी वाणी में अपना साहित्य रचा है। संतों द्वारा व्यक्त विचार तत्कालीन समाज के लिए जैसे उपयोगी थे, उससे भी कहीं अधिक वे आज उपयोगी हैं। यह सत्य है कि समूचा सन्त साहित्य धार्मिक–सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है। आधुनिक वैश्वीकरण के दौर में संत साहित्य इसलिए प्रासंगिक है कि वह जाति–व्यवस्था व साम्प्रदायिक कट्टरता जैसी समाज–व्यवस्था का विरोधी है। वास्तव में साम्प्रदायिक सहिष्णुता व भाई–चारे की भावना से ओत–प्रोत सन्त साहित्य आज समूचे विश्व का पथ–प्रदर्शन कर रहा है।

मूल शब्दः अभिव्यंजित, वैमनस्य, अवरूद्ध, भगीरथी, वैश्वीकरण

प्रस्तावना
संत परम्परा कल्याणकारिणी भागीरथी की भाँति सतत प्रवहमान है। संत कवि अपने युगीन परिवेश में फैली असंगतियों के विरूद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द करते रहे। चाहे सामाजिक विसंगतियों हों, चाहे धार्मिक कुरीतियाँ हों, चाहे नैतिक विडम्बनाएँ हों– इन सब जटिलताओं को केन्द्र में रखकर जो विचार उन्होंने अपने युगीन समाज में प्रेषित कर जनमानस में जागृति लाने का प्रयास किया, वे कल्याणकारी विचार निःसन्देह आज भी प्रासंगिक हैं। सच तो यह है कि संतों का चित्त युगान्तरकारी चेतना से अनुप्रणित था। समाज के लिए उनका योगदान अनूठा है। वे अपने निष्पक्ष विचारों से हिन्दू–मुस्लिम में व्याप्त संघर्ष को शमित कर समाज में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहे। निःसन्देह संतों के द्वारा जाति विहीन मानवता को कामना कर भावात्मक एकता के प्रसार का श्लाघ्य प्रयास किया गया।
सन्त साहित्य में अनेक स्थानों पर व्यक्तिगत जीवन के विकारों के परिष्कार की ध्वनि गुंजित होती है, जिसके माध्यम से वे आदर्श समाज की कामना करते दिखाई देते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं – "वे सीधे समाज के सुधार में आत्म सुधार की कल्पना नहीं करते, अपितु अपने व्यक्तित्व के निखार में ही समाज का परिष्कार देखते हैं।"[1]
आज के सन्दर्भ में यदि सन्त साहित्य का अवलोकन किया जाए, तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सन्त–साहित्य में समानता का भाव व्यंजित है, जातिवाद व साम्प्रदायिकता जैसी अमानवीय समाज व्यवस्था का विरोध है, सामाजिक व धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति विद्रोह व्यक्त हुआ है। निश्चित तौर पर सन्त साहित्य के इस पक्ष में राष्ट्रीय एकता, सामाजिक सौहार्द्र व साम्प्रदायिक सद्भावना की तीव्र ललक दिखाई पड़ती है। सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि कबीर के काव्य में उन धार्मिक पद्धतियों का कट्टरता से विरोध किया गया है जो धर्म और जाति की आड़ में मानव–मानव के बीच अलगाव पैदा करती हैं, विद्वेष को बढ़ावा देती हैं। 'ना हिन्दू ना मुस्लिम' कह कर वे सहज मानव धर्म की स्थापना करते प्रतीत होते हैं। धर्म की आड़ में जनता का शोषण करने वाले ब्राह्मण वर्ग के प्रति तीव्र आक्रोश कबीर–काव्य में अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था के अंधविश्वासपूर्ण सिद्धान्तों की तर्कहीनता को अनावृत कर समाज की आँखें खोलने की पुरजोर कोशिश की है–

"जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया तऊ आन बाट काहे नहीं आया।
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद, तुम कत लोहू हम कत दूध।"[2]

कबीर के सन्दर्भ में डॉ0 प्रकाशचन्द्र गुप्त के विचार अत्यन्त सटीक प्रतीत होते हैं– "सामाजिक शोषण, अनाचार व अन्याय के विरूद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य तीखा अस्त्र है। कबीर से हम रूढ़िगत सामन्ती दुराचार और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध डट कर लड़ना सीखते हैं और यह भी सीखते हैं कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोषण के दुर्ग के सामने अपना माथा ऊँचा रखता है।"[3]
समूचे सन्त काव्य में जातीय व्यवस्था का विरोध स्पष्टतः परिलक्षित होता है। सन्त कवियों ने हिन्दू–मुस्लिम धर्म में व्याप्त विडम्बनाओं की भर्त्सना करके मानव धर्म को प्रस्तावित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। सन्त रविदास के काव्य में भी जातिगत भेदभाव से ऊपर उठ कर सामाजिक बुराइयों के निराकरण की ओर संकेत किया गया है। सन्त रज्जबदास लिखते हैं –

"हिन्दू तुरक दून्यूँ जल बूँदा,
कासू कहिए ब्राह्मण सूदा।
रज्जब समता ज्ञान विचारा,
पंच तत्त का सकल पसारा।"[4]

वर्तमान युगीन स्थितियाँ भी मध्य युग जैसी ही हैं। आज के इस प्रगतिशील युग में भी जातिवाद, साम्प्रदायिक ज़हर व अंधविश्वास की जड़ें भारतीय समाज में उतनी ही गहरी हैं जितनी मध्य युग में थी। सामाजिक कट्टरतावाद ने समाज की जड़ों को खोखला कर दिया है। यह सत्य है कि जातिगत भेदभाव व छूआछूत के संकुचित दायरे से बाहर निकल कर ही मानव व समाज का सहज विकास सम्भव हो सकता है। सन्तों की वाणी मानव मात्र को प्रेम, भाईचारे व आपसी सौहार्द्र का संदेश देती प्रतीत होती है। इसलिए सन्तों की वाणी की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही व्यापक है, जितनी तत्कालीन युग में थी।
रूढ़ियाँ व अंधविश्वास ऐसी मानवीय ग्रंथियाँ हैं जिनसे मानव–विकास की प्रगति अवरूद्ध हो जाती है और विवेक शून्यता का जन्म होता है। सभी सन्त कवियों ने धर्म के सार तत्व को त्याग कर ऊपरी आडम्बरों में ही व्यस्त रहने को धार्मिक मूल्यों का विघटन माना है। वास्तविकता यह है कि "हमारे देशवासी धर्म के यथार्थ

स्वरूप को भूलकर पाप–पुण्य पर अधिक विश्वास करते हैं। पुण्य लूटने अथवा कमाने की मानसिकता के कारण वे अंधविश्वास की खाई में और भी अधिक धँसते जा रहे हैं और साथ में सम्पूर्ण समाज की प्रगति पर भी अंकुश लगा रहे हैं।"[5]

सन्त काव्य का गहराई से अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी सन्त कवियों ने सामाजिक–धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त परम्परागत मान्यताओं व रूढ़िवादी विचारधाराओं का कड़ा विरोध किया है। उनके मतानुसार इस तरह की रूढ़िवादी मानसिकता से ग्रसित समाज कभी उत्कर्ष नहीं कर सकता। कबीरदास के 'पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार' और मलूकदास के 'साधो दुनिया बावरी, पत्थर पूजन जाय' में यह भाव पूर्ण तीव्रता के साथ अभिव्यंजित हुआ है।

धर्म की पृष्ठभूमि में अनेक मत–मतान्तरों का जन्म हुआ। इनकी पद्धतियाँ व परम्पराएँ अलग–अलग थीं। समय के साथ इन्होंने मूल भाव को छोड़कर रूढ़ियों का रूप धारण कर लिया, जबकि सत्य यह है कि 'धर्म वह सामान्य मूल्य है जो मानव के भौतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक इत्यादि सभी प्रकार के मूल्यों से संपृक्त, संयम की भावना को अभिव्यंजित करता है। धर्म किसी भी कार्य चिन्तन अथवा उपलब्धि के क्षेत्र में नैतिकता का सूचक है। धर्म किसी भी प्रकार के जाति, सम्प्रदाय, सभ्यता अथवा संस्कृति के सीमित दृष्टिकोण से ऊपर है।"[6]

कदाचित धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के कारण ही सभी सन्त कवि समभाव पर आधारित मानव धर्म को प्रतिपादित करना चाहते थे–

"कोई दौड़े द्वारिका, कोई कासी जाँहि
कोई मथुरा को चले, साहब घट की माँहि।"[7]

उद्देश्य

संतों ने अपनी सहज वाणी के द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त संघर्ष व जातिगत भेद–भाव का पुरजोर विरोध कर समानता के भाव व्यंजित करने का प्रयास किया। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की, जो ऊँच–नीच की भावना से सर्वथा शून्य हो, जो ब्राह्मण–शूद्र, हिन्दू–मुस्लिम के भेदभाव से ऊपर हो। उनकी वाणी आज के इस वैश्वीकरण के दौर में भी मानव मात्र को यह संदेश देती प्रतीत होती है कि हमें हर प्रकार के भेदभाव से ऊपर एक स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु प्रयासरत रहना चाहिए। ऐसे ही उदात्त विचारों के कारण सन्त साहित्य आज भी प्रासंगिक है।

उपसंहार

सन्त कवियों ने अपनी वाणी के माध्यम से समाज को एक नई दिशा प्रदान की। तत्कालीन विसंगतियों पर जोरदार प्रहार कर ब्राह्मणवाद व वर्णाश्रम धर्म की कटु आलोचना कर समाज सुधारक का दायित्व भली–भाँति निभाया। निःसन्देह कबीर सन्त कवियों में सर्वाधिक विद्रोही है। एक विद्वान आलोचक के अनुसार – "कबीर की अन्तःदृष्टि सत्यान्वेषी है और उनके स्वानुभाव गहरे हैं। उनकी रहस्यमयता भी स्वाभाविक सरसता से ओत–प्रोत है। वे एक उज्ज्वल भविष्यदृष्टा के रूप में समाज सुधारक थे। सामाजिक पाखण्डों और चिरकाल से व्याप्त रूढ़ियों पर उन्होंने अपनी प्रभावपूर्ण वाणी से तीक्ष्ण प्रहार किए है ..... ।"[8]

वास्तव में साम्प्रदायिकता, जातिगत भेदभाव व अनेक अन्तर्विरोधों से त्रस्त वर्तमान भारतीय समाज की व्याधियों को अपने काल में ही लक्षित कर इनका समाधान प्रस्तुत करने वाले कबीर सही अर्थों में दूरदृष्टा थे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ0 88
2. श्याम सुन्दरदास (सं0), कबीर ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0 173
3. डॉ0 प्रणव शर्मा, प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य, पृ0 226
4. हरि, संत सुधा सार, पृ0 530
5. राशि जेकब, महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता, पृ0 103
6. डॉ0 हरमोहन सूद, हजारीप्रसाद द्विवेदी का सृजनात्मक साहित्य एवं सांस्कृतिक/मानवीय मूल्यों का निकष, पृ0 13
7. डॉ0 प्रणय शर्मा, प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य, पृ0 226